International Journal for Multidisciplinary Research (IJFMR)
E-ISSN: 2582-2160 ● Website: www.ijfmr.com ● Email: editor@ijfmr.com

राज्य-राष्ट्र पर दीन दयाल उपाध्याय के विचार

प्रवीन चौधरी

शोध छात्र, राजनीति विज्ञान विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, भारत

शोध संक्षेप:
इस लेख में, हम एक मजबूत भारत के गठन की स्पष्ट समझ हासिल करने के लिए पंडित दीनदयाल जी द्वारा प्रतिपादित राष्ट्र और राष्ट्रवाद की अवधारणा पर गहराई से विचार करेंगे। हम एक मजबूत भारत के निर्माण में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका का पता लगाते हैं और भारतीय राष्ट्र, संस्कृति और राष्ट्रवाद के महत्व पर प्रकाश डालते हैं। इसके अलावा, हम भारतीय राष्ट्रवाद की तुलना पश्चिमी देशों से करते हैं, एक व्यापक विश्लेषण प्रदान करते हैं जो हम सभी को अपने राष्ट्र, संस्कृति और राष्ट्रवाद के महत्व की सराहना करने और समझने की अनुमति देता है। हमारे देश के प्रसिद्ध विचारक, दार्शनिक और राजनीतिक सामाजिक कार्यकर्ता पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के व्यक्तित्व ने न केवल युवाओं के लिए प्रेरणा का काम किया बल्कि उन्हें एक नई दिशा भी प्रदान की। दीनदयाल जी राष्ट्रवाद को संस्कृति के चश्मे से समझने के महत्व में दृढ़ विश्वास रखते थे। उन्होंने केवल इसके राजनीतिक या आर्थिक पहलुओं पर ध्यान केंद्रित करने के बजाय सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भारत की आत्मा को समझने की वकालत की। उनके अनुसार किसी भी राष्ट्र की असली पहचान उसकी सांस्कृतिक जड़ों में जाकर ही जानी जा सकती है और इस संबंध में भारत सबसे आगे है।

बीज शब्द: राष्ट्र, राजनीतिक, राज्य, समाज, दार्शनिक, सांस्कृतिक

प्रस्तावना:
प्राचीन यूनानी राजनीतिक विचारक व दार्शनिक, 'राज्य' शब्द का प्रयोग या तो सम्पूर्ण समाज के संगठन का संकेत देने के लिए करते थे, या तो सामाजिक जीवन के ध्येय का संकेत देने के लिए। यूनानी विचारकों के अनुसार, जिसमें प्लेटो ने राज्य की संकल्पना को एक 'आदर्श राज्य' के रूप में वर्णित किया है। प्लेटो की सबसे विख्यात कृति 'रिपब्लिक' राज्य व्यवस्था से संबंधित है। प्लेटो के शिष्य, अरस्तू ने अपने प्रसिद्ध कृति 'पॉलिटिक्स' के प्रथम भाग में राज्य के स्वरूप, उत्पत्ति और उदेश्य पर विचार किया है।[1] प्लेटो के लिए, राज्य एक मैक्रोकोसम है, जिसमें व्यक्ति अपना उचित स्थान पा सकता है और उन कर्तव्यों का पालन कर सकता है जिनके लिए वह सबसे उपयुक्त है।[2] अरस्तू के अनुसार, राज्य एक प्राकृतिक संस्था है तथा इसके अलावा वह राज्य को एक नैतिक संस्था भी मानता है।[3] राज्य 'समान लोगों का एक समुदाय है, जिसका लक्ष्य सर्वोत्तम संभव जीवन है।' अरस्तू का मानना था कि राज्य व्यक्ति के

लिए आवश्यक और स्वाभाविक भी है। सबसे पहले इतालवी राजनीतिक विचारक निकोलो मेकियावेली ने सोलहवी शताब्दी के आरंभ में राज्य की परिभाषा ऐसी सत्ता के रूप मे दी, जो मनुष्यों के ऊपर शक्ति का प्रयोग करती है। हॉब्स का कहना है कि राज्य का उद्देश्य व्यवस्था बनाए रखना, लोगों की रक्षा करना और संपत्ति के अधिकार की रक्षा करना है। लॉक के लिए राज्य का कार्य जीवन, स्वतंत्रता और संपदा का संरक्षण है। रूसो के अनुसार, राज्य 'सामान्य इच्छा' को पूरा करने के लिए एक 'सामाजिक अनुबंध' है। बेंथम का मानना है, कि राज्य एक कृत्रिम संगठन है जो व्यक्ति सुख की प्राप्ति के लिए राज्य का निर्माण करता है। हर्बर्ट स्पेंसर, राज्य को 'आपसी आश्वासन के लिए संयुक्त स्टॉक संरक्षण कंपनी' मानते हैं। मार्क्स उम्मीद करते हैं कि 'वर्गहीन समाज' की स्थापना के बाद राज्य "मुरझा जाएगा"। प्रो. लास्की के लिए राज्य पुरुषों की संगति है, इसका उद्देश्य 'सामान्य जीवन का संवर्धन' है। किसी राज्य का उद्देश्य किसी वर्ग के लिए नहीं, बल्कि पूरी आबादी के लिए सबसे अधिक उपलब्ध कल्याण होना चाहिए।[4]

प्राचीन भारतीय चिंतकों में मनु के अनुसार, राज्य एक ऐसी संस्था नहीं है, जो धीरे-धीरे विकसित हुई, बल्कि एक आकस्मिक रचना थी। मनु ने राज्य की उत्पत्ति को देवीय सिद्धांत माना है। कौटिल्य ने पहली बार अर्थशास्त्र में राज्य को परिभाषित किया है। कौटिल्य के अनुसार, एक क्षेत्र तब तक राज्य नहीं हो सकता जब तक कि उस राज्य को नियंत्रित करने के लिए लोग और शासक न हों। कौटिल्य के अनुसार, एक राज्य में विभिन्न शहर, लोग, लोगों के विभिन्न संप्रदाय, सेना, खजाना और कर-प्रणाली होती है।[5]

दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार राज्य

दीनदयाल उपाध्याय की मान्यता है कि समाज स्वयंभू इकाई है तथा 'राज्य' की उत्पत्ति समाज की आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुई। वे समाज व राज्य की उत्पत्ति एक साथ हुई नहीं मानते; वरन् समाज पहले उत्पन्न हुआ तथा राज्य बाद में। समाज का सहोदर 'धर्म' है। 'धर्म' के आधार पर समाज चलता था। उपाध्याय इस भारतीय मान्यता से सहमत थे कि कृतयुग में राज्य व दंड-व्यवस्था नहीं थी। धर्म के आधार पर संचालित स्वायत्त समाज था। कालांतर में समाज में विकृति आई। उस विकृति से 'धर्म' का संरक्षण करने के लिए राज्य की उत्पत्ति हुई। इस संदर्भ में दीनदयाल कहते हैं: .....राज्य का निर्माण हमारे यहाँ सामाजिक समझौते के अनुसार हुआ। पहले राजा नहीं था। महाभारत में वर्णन है कि कृतयुग में न राज्य था, न राजा था, न दंड था, न दंड देनेवाला था; सब प्रजा धर्म के आधार पर एक-दूसरे की रक्षा करती थी।

नराज्यं न च राजासीत् न दण्ड्यो न च दण्डिकः।
धर्मेनैव प्रजाः सर्वःरक्षण्ति स्म मिलनम् ॥

(राज्य, राजा, दंड तथा दांडिक, ये सब नहीं थे। धर्म के आधार पर ही सारी प्रजा परस्पर एक-दूसरे का संरक्षण करती थी।)

"बाद में अव्यवस्था आई, लोभ आया, क्रोध आया, धर्म की ग्लानि हुई और 'मात्स्य न्याय' प्रारंभ हो गया। सारे ऋषि घबराकर ब्रह्मा के पास गए। ब्रह्माजी ने स्वयं द्वारा रचित एक ग्रंथ इन ऋषियों को दिया जो 'दंडनीति' या 'राज्यशास्त्र' से संबंधित ग्रंथ था। उन्होंने मनु से कहा कि तुम राजा हो जाओ। मनु ने कहा, 'मैं राजा नहीं बनूँगा; क्योंकि राजा बनने के बाद मुझे दंडित करना पड़ेगा और कुछ लोगों को मारना होगा,

कुछ को पीटना होगा, कुछ को कारागार में डालना होगा व अन्य कई कठोर कर्म करने पड़ेंगे। मैं यह पाप क्यों करूँ?' इस पर ब्रह्माजी ने कहा, 'ऐसी कोई बात नहीं है। यह पाप नहीं; बल्कि अन्य लोग धर्म का काम करें इसके लिए तुम यह काम करोगे।' अतः यह भी धर्म ही गिना जाएगा। इतना ही नहीं, प्रजा के जितने कर्म होंगे, उन कर्मों का एक भाग तुम्हें मिल जाएगा और इसलिए ये जितना धर्म करेंगे उसका एक भाग स्वयं मिल जाएगा। परंतु यदि प्रजा पाप या अधर्म करेगी और राजा उसे रोक नहीं सके, तो उस पाप का भाग भी राजा को मिलना चाहिए। ऐसा नहीं हो सकता कि 'मीठा-मीठा गप्प और कड़वा-कड़वा थू।' दोनों ही मिलने चाहिए। "यह 'समझौता-सिद्धांत' राज्य पर लागू हो सकता है, राष्ट्र के ऊपर नहीं। परंतु पश्चिम में कुछ उल्टा हुआ। समाज तो उनकी दृष्टि से समझौते में से पैदा हुआ; परंतु राजा दैवी अधिकार के आधार पर सीधा ईश्वर का प्रतिनिधि बन गया। यह उलटी बात है। हमारे यहाँ राजा को चाहे आदि-समय से पैदा हुआ माना गया; परंतु समाज को सो 'स्वयंभू', माना है तथा राज्य एक संस्था के नाते है।" उपर्युक्त उद्धरण में मुख्यतः तीन बातों पर उपाध्याय ने अपना मत प्रस्तुत किया है। (1) राज्योत्पत्ति पूर्व समाज की स्थिति, (2) राज्य की उत्पत्ति तथा (3) पश्चिम की तत्संबंधी अवधारणा। प्रथम दो बातों में से निम्न निष्पत्तियाँ निकाली जा सकती हैं-

1. राज्य की उत्पत्ति समाज के बाद हुई।
2. राज्योत्पत्ति पूर्व समाज सहजधर्म का पालक था; धर्मविधायक ऋषि व प्रजापति ब्रह्मा स्वयं राजा नहीं थे।
3. राज्य मानवी विकारों की उत्पत्ति है। वह प्रजा में उत्पन्न हुए लोभ, क्रोध आदि धर्म को हानि पहुँचानेवाले तत्त्वों के खिलाफ निरूपित हुआ। अतः राज्य का प्रारंभिक स्वरूप नकारात्मक था, 'दंड-नीति' के रूप में।
4. भारतीय राज्य कल्पना वैधानिक राज्य कल्पना है। प्रजा के प्रतिनिधि ब्रह्मा द्वारा राजा मनु को स्वनिर्मित 'विधान' प्रदान किया गया।
5. राज्य, राजा और प्रजा के दोहरे समझौते में से उत्पन्न हुआ। धर्म स्थापना का कार्य ऋषियों का तथा धर्म संरक्षण का कार्य राजा का माना गया (विधायिका व कार्यपालिका में पृथक्करण) ।
6. प्रजा के 'धर्म' का एक भाग राजा को मिलेगा; यह विचार, प्रजा द्वारा स्वीकृत राज्य-व्यवस्था तथा कराधान की जिम्मेदारी की ओर संकेत करता है।
7. पाप का भाग भी राजा को मिलेगा; अर्थात् धर्मरक्षण में असमर्थ राजा को हटाने का अधिकार प्रजा एवं उनके प्रतिनिधि ऋषियों को रहेगा।
8. राज्य समाज की एक संस्था है, संपूर्ण समाज नहीं।

राज्योत्पत्ति की यह कल्पना आधुनिक लोकतंत्रात्मक संवैधानिक शासन के बहुत निकट है। संभवतः इसी परंपरा के कारण तृतीय विश्व में केवल भारत ही ऐसा देश है जहाँ आधुनिक संवैधानिक लोकतंत्र सहज रूप में अपनी जड़ें जमा सका।[6]

राष्ट्र-राज्य

राष्ट्र (Nation) शब्द लैटिन भाषा के 'नेशियो' (Natio) से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है 'जन्म'।

राजनीतिशास्त्र के विभिन्न विद्वानों ने, राष्ट्रवाद की परिभाषा अपने-अपने दृष्टिकोणें से प्रस्तुत की है। कतिपय प्रमुख व महत्वपूर्ण परिभाषायें इस प्रकार हैं:-

चार्ल्स पी. श्लेचर (Charles P. Schleicher) के शब्दों में, "राष्ट्र ऐसे मानव समुदाय को कहते हैं, जिसमें पारस्परिक एकता की गहरी अनुभूति के साथ अपने को अन्य समुदायों से पृथक समझने की प्रवृति भी हो।"

रॉयल इन्स्टीट्यूट (Royal Institute) द्वारा 1939 में प्रस्तुत रिपोर्ट में अधिकांश राष्ट्रों में निहित विशेषताओं का उल्लेख किया गया है-

1. राष्ट्र में एक सामान्य सरकार का भाव विद्यमान रहता है। यह भाव भविष्य की आकांक्षा के रूप में हो सकता है अथवा वर्तमान या अतीत की आवश्यकता के रूप में।
2. राष्ट्र में समस्त व्यक्तिगत सदस्यों के मध्य कुछ घनिष्ठता रहती है।
3. राष्ट्र ऐसे समूह का परिभाषित प्रदेश होता है, जिसमें उसे स्थापना का अधिकार प्राप्त हो सकता है।
4. राष्ट्र के कुछ सामान्य हित होते हैं। राष्ट्र, राज्य के साधनों द्वारा सामाजिक आवश्यकताओं को संतुष्ट करता है।
5. राष्ट्र के सदस्यों के मस्तिष्क में राष्ट्रीय भावना की धारणा का होना आवश्यक है।
6. भाषा, जाति, धर्म एवं राष्ट्रीय चरित्र विशेषतायें भी राष्ट्रीयता के गठन में आवश्यक तत्व हैं।

राष्ट्र-राज्य एक ऐसी सरकार है जो एक विशिष्ट क्षेत्र पर पूर्ण नियंत्रण रखती है और इसे व्यक्तियों के एक समूह द्वारा चलाया जाता है जो खुद को उस राष्ट्र के नागरिक के रूप में पहचानते हैं। किसी राष्ट्र-राज्य का उसके क्षेत्र और लोगों पर अधिकार राज्य के भीतर एक स्वदेशी राष्ट्रीय समूह के आत्मनिर्णय के अधिकार द्वारा उचित है। यह राजनीतिक मॉडल दो सिद्धांतों को जोड़ता है: पहला, **राज्य संप्रभुता**, जो राज्यों को बाहरी हस्तक्षेप के बिना शासन करने का अधिकार देती है, और दूसरा, **राष्ट्रीय संप्रभुता**, जो राष्ट्रीय समुदायों के स्वयं पर शासन करने के अधिकार को स्वीकार करती है। राष्ट्रीय संप्रभुता लोकप्रिय संप्रभुता की नैतिक-दार्शनिक अवधारणा पर आधारित है, जो दावा करती है कि किसी राज्य में अंतिम शक्ति लोगों के पास होती है। इसका मतलब यह है कि किसी राज्य के शासन को किसी न किसी रूप में लोगों की सहमति होनी चाहिए। 1787 में फ्रांसीसी क्रांति के बाद स्थापित फ्रांसीसी राष्ट्र-राज्य को अक्सर पहला उदाहरण माना जाता है, हालांकि कुछ विद्वानों का तर्क है कि 1649 में गठित अंग्रेजी राष्ट्रमंडल, सबसे पहला उदाहरण था। 18वीं सदी के उत्तरार्ध से, राष्ट्र-राज्य धीरे-धीरे अन्य वैधता सिद्धांतों की जगह लेते हुए शासन का प्रमुख रूप बन गया है।[7]

एक राष्ट्र के रूप में भारत के विकास का एक लंबा इतिहास रहा है। भारत राष्ट्र की अवधारणा प्रागैतिहासिकता काल में ही विकसित हो गई थी। ऋग्वेद में, 'राष्ट्र' शब्द का उल्लेख है। वाल्मीकि रामायण में हिमालय के कैलाश पर्वत से श्रीलंका के त्रिकूट पर्वत या सरयू से सागर पर्यन्त भारत राष्ट्र का चित्र स्पष्ट हो जाता है। महाभारत काल में बृहत्तर भारत, राष्ट्र रूप में उभरता दृष्टिगोचर होता है। पुराणों में भारत राष्ट्र के निर्माण की प्रक्रिया का उल्लेखनीय वर्णन है।[8]

दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार राष्ट्र-राज्य

पंडित दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार, राष्ट्र की भारतीय परिभाषा में भूमि, लोग और संस्कृति शामिल हैं। वह बताते हैं कि संस्कृति किसी राष्ट्र के सार और जीवन शक्ति को समाहित करती है। उपाध्याय ने लंबे समय से भारत को प्राचीन काल से भौगोलिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक महत्व वाले राष्ट्र के रूप में चित्रित किया है। इसके अतिरिक्त, वह एक राष्ट्र का निर्माण करने वाले चार आवश्यक तत्वों की रूपरेखा बताते हैं। सबसे पहले, भूमि और लोगों के संयोजन से एक देश बनता है। दूसरे, इसके अस्तित्व में नागरिकों की सामूहिक इच्छाशक्ति और दृढ़ संकल्प का योगदान है। तीसरा, एक प्रणाली, जैसे नियम या संविधान, महत्वपूर्ण है। अंत में, 'धर्म' किसी राष्ट्र के लिए आदर्श जीवन शैली का प्रतिनिधित्व करता है।

इन चारों का समुच्चय अर्थात् ऐसी समष्टि को 'राष्ट्र' कहा जाता है। जिस प्रकार व्यक्ति के लिये शरीर, मन, बुद्धि व आत्मा जरूरी है, इन चारों को मिलाकर व्यक्ति बनता है, उसी प्रकार देश, संकल्प, धर्म और आदर्श के समुच्चय से राष्ट्र बनता है।[9] राष्ट्र एक सजीव मनुष्य की भांति है। मनुष्य के साथ राष्ट्र की भी एक अन्तर्रात्मा होती है, एक सचेतन पुरूष होता है जो राष्ट्र के राजनीतिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक रचना को धारण, गठित एवं संचालित करते है।[10] राष्ट्र की आत्मा को 'शास्त्रीय' नाम दिया गया है, जिसे **'चिति'** कहा गया है। मैक्डूगल के अनुसार, किसी भी समूह की एक मूल प्रकृति होती है, वैसी ही चिति भी समाज की वह प्रकृति है जो जन्म से है तथा ऐतिहासिक कारणों से इसका निर्माण नहीं होता है।[11] चिति ही किसी भी राष्ट्र की आत्मा है जिसके सम्बल पर ही राष्ट्र का निर्माण सम्भव है, चितिविहीन राष्ट्र की कल्पना व्यर्थ है, राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक, चिति के अन्तर्गत आता है इसके साथ ही राष्ट्रीय हित से जुड़ी विभिन्न संस्थाएँ भी चिति में से जुड़ी है व इसके अन्तर्गत आती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि चिति में व्यक्ति व राष्ट्र दोनों का ही समावेश है।[12] अब यदि हम यहीं कुछ प्रश्नों का विश्लेषण करें, तो यहाँ निम्नांकित प्रश्नों के उत्तर इस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है- चिति क्या है ?

1. चिति राष्ट्र की आत्मा है।
2. चिति राष्ट्र का चेतन्य है।
3. चिति राष्ट्रीय संस्कृति का नियामक है।
4. चिति राष्ट्र की विशेष प्रकृति है।
5. चिति राष्ट्र की विभिन्न संस्थाओं की जननी है।
6. चिति' राष्ट्र के उत्थान एवं पतन को निर्धारित करती है।
7. प्रत्येक समाज 'चिति के साथ ही उत्पन्न होता है।
8. चिति ईश्वरप्रदत्त होती है।

'चिति' संबंधी अवधारणा वस्तुतः, पं० दीनदयाल उपाध्याय के राष्ट्रवादी मानस की उपज है। चिति वह मापदण्ड है, जिससे प्रत्येक वस्तु को मान्य अथवा अमान्य किया जाता है। यही राष्ट्र की आत्मा है, इसी आत्मा के आधार पर राष्ट्र मजबूत रूप से खड़ा होता है व यही आत्मा, राष्ट्र के प्रत्येक श्रेष्ठ व्यक्ति के आचरण द्वारा प्रकट होती है।[13] सामान्यतः, लोग राज्य को ही राष्ट्र की संज्ञा देते हैं; ये एक गलत धारणा है, राज्य राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला एक अंग है। राज्य अनेक अवसरों पर राष्ट्र का

प्रतिनिधित्व भी करता है। इसी कारण राज्य ऐसा महत्वपूर्ण तत्त्व है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। किंतु इन कारणों के आधार पर राष्ट्र व राज्य को एक ही धारणा का पर्याय नहीं माना जा सकता।

राष्ट्र एक जीवमान ईकाई है, जो कि स्वयं प्रकट होता है व राज्य सहित अनेक ईकाइयों का निर्माण करता है, ये सभी ईकाइयाँ राष्ट्र के लिये पोषक का कार्य करती है। यजुर्वेद में **'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः'** मंत्र द्वारा यही मनीषा व्यक्त की गई है, कि 'हम जागते रहेगें' अर्थात् राष्ट्र को जागृत रखेगें।[14] पं० दीनदयाल जी का यह मानना था कि हमारे प्राचीन राष्ट्र का अन्य राष्ट्रों से भिन्न, अपना एक अलग व्यक्तित्व है, उसकी अपनी एक विशेष अस्मिता है, उसका एक अपना प्रकृतिधर्म है, यह स्वत्व सिद्ध हो चुका है।[15] भारत एक प्राचीन राष्ट्र है, इसी के साथ एक प्रबल धारणा यह है कि भारत हिंदू राष्ट्र है। पं० दीनदयाल जी यह मानते हैं कि रेखागणित व न्याय में कुछ बातें स्वयं सिद्ध होती है। वैसे ही भारत एक हिन्दू राष्ट्र है- स्वयं सिद्ध है।[16] भारत की हिंदू राष्ट्रीयता के बारे में कोई संदेह नहीं है- **'त्वं हि दुर्गादशप्रहरणधारिणी'** कहते हुये भारतीय समाज मातृभूमि के प्रति ध्यान धरता है। महाराणा प्रताप अथवा अकबर? आपका राष्ट्रपुरुष कौन है? यह प्रश्न पूछे जाने पर तुरंत 'राणा प्रताप' का चयन जो समाज करता हो, ऐसा समाज ही हिन्दू समाज है।"[17]

पंडित दीनदयाल उपाध्याय राष्ट्र को राजनीतिक नहीं वरन् सांस्कृतिक इकाई मानते है, लेकिन राजनीतिक रूप से राष्ट्रीय अखंडता के वे प्रबलतम समर्थक हैं- मजहबी तथा राजनीतिक साम्राज्यवाद के खिलाफ जिस भू-सांस्कृतिक मानवतावादी राष्ट्रवाद की कल्पना की गई थी, वह तो संसार में कहीं भी साकार नहीं हुई। 'यूरोपीय राष्ट्रवाद' आकार ग्रहण नहीं कर सका।' अरब राष्ट्रवाद' आज भी छिन्न-विच्छिन्न है। 'भारतीय राष्ट्रवाद' भी विभक्त हुआ। राजनीतिक इकाइयों को ही राष्ट्रीय राज्य मानने की दुनिया में आज प्रथा है। राष्ट्रवाद को व्याख्या अभीतिक भावनाओं की सजातीयता के रूप में की जाती है। लेकिन राजनीतिक बँटवारों को न केवल राष्ट्रों का विभाजन माना जाता है वरन् एक ही प्रजातीय सांस्कृतिक इकाई, परस्पर शत्रुवत् व्यवहार करने लगती है। उपाध्याय की राष्ट्रवाद की अवधारणा भी इस व्यवहार का अपवाद नहीं थी। एक तरफ वे अखंड भारत के समर्थक थे, तो दूसरी ओर पाकिस्तान को भारत का 'प्राकृत शत्रु' घोषित करते थे। राष्ट्रीय राज्यों की उत्पत्ति के विषय में उपाध्याय लिखते हैं, "(यूरोप के) इन विचारों में राष्ट्रवाद सबसे पुराना व बलशाली है। रोम के साम्राज्य के पतन के बाद, रोमन कैथोलिक चर्च के प्रति विद्रोह अथवा उसके प्रभाव में कमी के कारण यूरोप में राष्ट्रों का उदय हुआ। यूरोप का पिछले एक हजार वर्ष का इतिहास, इन राष्ट्रों के आविर्भाव तथा परस्पर संघर्ष का ही इतिहास है। इन राष्ट्रों ने यूरोप महाद्वीप के बाहर जाकर अपने उपनिवेश बनाए तथा दूसरे स्वतंत्र देशों को गुलाम बनाया। राष्ट्रवाद के उदय के कारण राष्ट्र और राज्य की एकता की प्रवृत्ति भी बढ़ी तथा 'राष्ट्रीय राज्य' का यूरोप में उदय हुआ। साथ ही रोमन कैथोलिक चर्च के केंद्रीय प्रभाव में कमी के कारण, या तो राष्ट्रीय चर्च का निर्माण हुआ या मजहब का। मजहबी गुरुओं का राजनीति में कोई विशेष स्थान नहीं रहा। सेक्युलर स्टेट की कल्पना का इस प्रकार जन्म हुआ।[18]

पंडित दीनदयाल जी ने यह स्पष्ट किया है कि एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में भारत पश्चिमी अवधारणाओं जैसे- व्यक्तिवाद, लोकतंत्र, समाजवाद, साम्यवाद एवं पूंजीवाद पर निर्भर नहीं हो सकता। हमें पाश्चात्य

विचारधारा से ऊपर उठकर भारतीय विचारधारा को आत्मसात करना होगा, तभी हम सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के माध्यम से छदम राष्ट्रवादी विचारधारा से मुक्त हो सकेंगे।[19]

दीनदयाल जी का यह मत था कि बिना विशुद्ध राष्ट्रभावना के कोई भी राष्ट्र प्रगति नहीं कर सकता और न ही अपनी स्वतंत्रता को भी सुरक्षित रख सकता है। राष्ट्रीयता का ज्ञान धूमिल पड़ने के कारण ही, हम इन विषम परिस्थितियों में फंसे हुये हैं। इससे बाहर निकलने का भावात्मक आधार स्पष्ट करना होगा। राष्ट्रीय आदर्शों एवं आंकाक्षाओं की जड़े मजबूत होने से ही महान राष्ट्र बन सकता है। राष्ट्र के स्वरूप का परम्परागत सच्चा साक्षात्कार होने से राष्ट्रीय जीवनोददेश्य का ज्ञान होता है। इसलिये दीनदयाल जी इस बात पर भी बल देते थे कि पश्चिम के राष्ट्रवाद से भारत के राष्ट्रवाद की तुलना नहीं करनी चाहिये। पश्चिमी देशों ने जहाँ संघर्ष को प्रमुखता दी, तो वहीं भारत ने एकात्मकता को बढ़ावा दिया। यूरोप के देशों में राष्ट्रवाद के नाम पर भीषण संघर्ष एवं विनाश हुआ, इसलिये भारत के प्रति भी यह आंशका व्यक्त की गई कि शायद राष्ट्रीयता के नाम पर यहाँ भी संघर्ष हो, किंतु यह सभी आंशकायें व्यर्थ सिद्ध हुयी। भारत की राष्ट्रीयता का सहस्रों शताब्दियों का इतिहास इस तथ्य की पुष्टि करता है। भारत के इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि इसका इतिहास समस्त विश्व की मंगलकामना को बढ़ावा देता है। विश्व के विभिन्न देशों में प्राप्त तथ्यों व भारतीय इतिहास के अवशेष से यह सिद्ध होता है, कि भारत देश ने प्राणिमात्र के कल्याण हेतु ही प्रयत्न किये है। यदि विश्व का कल्याण करना है तथा पश्चिमी राष्ट्रवाद की विभीषिकाओं तथा संघर्ष, विद्वेष, प्रतिद्वन्दिता की भावना से विश्व को स्वतंत्र करना है तो यह आवश्यक है, कि भारत के सशक्त राष्ट्रवाद को ही संगठित और सक्षम बनाने का पूर्ण प्रयास करना होगा, तभी विश्व कल्याण सम्भव है।[20]

संदर्भ:-

1. ओम प्रकाश गाबा,(2021), 'पाश्चात्य राजनीति-विचारक', नेशनल पेपरबैक, पृष्ठ संख्या 50 ।
2. https://www.iilsindia.com/study-material/337522_1606765339.pdf
3. ओम प्रकाश गाबा,(2021), 'पाश्चात्य राजनीति-विचारक', नेशनल पेपरबैक, पृष्ठ संख्या 69 ।
4. https://www.iilsindia.com/study-material/337522_1606765339.pdf
5. https://www.academia.edu/32138489/Main_Ideas_of_Manu_pdf
6. डॉ महेशचंद्र शर्मा,(2017), 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय कर्तव्य एवं विचार', प्रभात पब्लिकेशन, पृष्ट संख्या 326 ।
7. https://www.britannica.com/topic/nation-state
8. कौशल किशोर मिश्र,(2021), 'भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद: पं. दीनदयाल उपाध्याय के सन्दर्भ में' के. के. पब्लिकेशन।, पृष्ट संख्या 172 ।
9. दीनदयाल उपाध्याय,(2008), 'राष्ट्र जीवन की दिशा', लोकहित पब्लिकेशन, पृष्ठ संख्या 95 ।
10. कौशल किशोर मिश्र,(2021), 'भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद: पं. दीनदयाल उपाध्याय के सन्दर्भ में' के. के. पब्लिकेशन, पृष्ट संख्या 02 ।
11. रामशंकर अग्निहोत्री, भानुप्रत्यप शुक्ल,(2008), 'राष्ट्र जीवन की दिशा', लोकहित पब्लिकेशन, पृष्ठ संख्या 61 ।

12. डॉ महेशचंद्र शर्मा,(2017), 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय कर्तव्य एवं विचार', प्रभात पब्लिकेशन, पृष्ट संख्या 323 ।
13. डॉ महेशचंद्र शर्मा,(2017), 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय कर्तव्य एवं विचार', प्रभात पब्लिकेशन, पृष्ट संख्या 331 ।
14. दीनदयाल उपाध्याय,(2008), 'राष्ट्र जीवन की दिशा', लोकहित पब्लिकेशन, पृष्ठ संख्या 44 ।
15. चंद्रशेखर परमानन्द,(2014), 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन: राष्ट्र की अवधारणा', सुरुचि प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 6 ।
16. दीनदयाल उपाध्याय,(1961), 'बौद्धिक एवं पंजिका', संघ कार्यालय झंडेवला, पृष्ट संख्या 101 ।
17. दीनदयाल उपाध्याय,(2008), 'राष्ट्र जीवन की दिशा', लोकहित पब्लिकेशन, पृष्ठ संख्या 167 ।
18. डॉ महेशचंद्र शर्मा,(2017), 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय कर्तव्य एवं विचार', प्रभात पब्लिकेशन, पृष्ट संख्या 173,174,175 ।
19. श्याम कार्तिक मिश्रा, 'एंटेगरल ह्यूमनिज़म: रेविजिटेड इन द कॉनटेंपोररी इंडिया' कुणाल बुक्स, नई दिल्ली, पृष्ठ 186।
20. कमल किशोर गोयनका,(1972), 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय व्याक्ति दर्शन', दीनदयाल शोध संस्थान, नई दिल्ली, पृष्ठ 70 ।